

लोकविद्या पंचायत

- सूचना युग में बराबरी के विचार के पुनर्निर्माण का पत्र ●
- लोकविद्याधर समाज के पुनर्संगठन का वैचारिक आधार पत्र ●
- पूंजी आधारित समाज के स्थान पर ज्ञान आधारित समाज के निर्माण का विचार पत्र ●

वर्ष 1, अंक 4, कुल पृष्ठ : 8

5 अगस्त 2011

सहयोग राशि : 5 रुपये

न्यायालय के फैसले और किसानों का हित

पिछले कुछ दिनों से भूमि अधिग्रहण का परिदृश्य कुछ बदल रहा है ऐसे संकेत आ रहे हैं। उच्चतम न्यायालय और इलाहाबाद उच्च न्यायालय दोनों ने ही दिल्ली के निकटवर्ती ग्रेटर नोएडा क्षेत्र के किसानों के लिये राहत के फैसले दिये हैं। ग्रेटर नोएडा के शासन और प्रशासन को फटकार लगाई है, बिल्डरों की योजनाओं को धक्का लगे ऐसे फैसले दिये हैं। अब के हापुड में (उ.प्र.) में चमड़ा उद्योग के लिये भूमि अधिग्रहण के खिलाफ याचिका की सुनवाई में उच्चतम न्यायालय ने यह कह दिया कि भूमि अधिग्रहण कानून खत्म किया जाना चाहिये। दूसरी तरफ केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्रालय में हाल ही में नेतृत्व परिवर्तन हुआ है और एक नये भूमि अधिग्रहण कानून का प्रस्ताव सामने आया है जो पुराने कानून के अंतर्गत किसानों पर की जा रही ज्यादतियों से उन्हें मुक्त करेगा ऐसा दावा सरकार कर रही है। नोएडा दिल्ली के बगल में है और वहाँ की हर हलचल राष्ट्रीय मीडिया में प्रकट होती है और बाकी जगहों की तुलना में अधिक महत्व की बन ही जाती है। भूमि अधिग्रहण में जो ज्यादाती नोएडा में की गई है उससे कई गुना ज्यादाती देश के कई इलाकों में बहुत पहले से हो रही है। आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तर प्रदेश व और राज्यों में भी ग्रामीण इलाकों में

सैकड़ों ऐसे स्थान हैं जहाँ निजी कंपनियों और सरकार के द्वारा जमीनें हड़पने और किसानों व आदिवासियों को बेदखल करने की क्रियायें बेलगाम चल रही हैं। अखबार में तो खबरें तभी आती हैं जब विरोध के संघर्षों पर लाठी-गोली चलती है और लोग अपनी जान गवाँ बैठते

अगस्त 3-5 के बीच दिल्ली में जंतर-मंतर पर 'संघर्ष' द्वारा आयोजित धरने में 15 राज्यों से आये हुए 4500 से अधिक लोगों ने यह मांग की कि 1894 का भूमि अधिग्रहण कानून तुरंत खत्म किया जाय और एक समग्र राष्ट्रीय विकास नियोजन कानून बनाया जाय। उन्होंने अपनी जमीनें सरकार या निजी बिल्डरों को कभी न देने का संकल्प लिया।

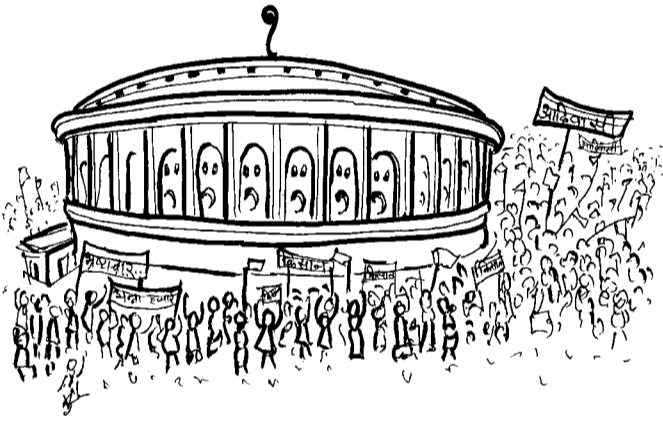
हैं। क्या इन सब जगहों पर अदालतों के फैसलों और सरकार की नई भूमि अधिग्रहण नीति का असर आयेगा इसकी उम्मीद की जा सकती है?

जमीनें हड़पने का यह देशव्यापी कार्यक्रम उदारीकरण और निजीकरण की अर्थनीति का ही हिस्सा है। यह कैसे हो सकता है कि

एक तरफ उदारीकरण, निजीकरण व विदेशी निवेश को जोरशोर से बढ़ावा दिया जाय और दूसरी ओर जमीनों का हड़पना बन्द हो जाय। नोएडा का किस्सा अलग है। वहाँ के किसान 5000 से 10,000 रुपये प्रति वर्गमीटर तक मुआवजा चाहते हैं। दस हजार रुपये प्रति वर्गमीटर, यानि दस करोड़ रुपये प्रति हेक्टेयर, यानी लगभग चार करोड़ रुपये प्रति एकड़, यानी ढाई करोड़ रुपये से ज्यादा प्रति बीघा, यानी लगभग 13 लाख रुपये प्रति बिस्वा। जहाँ बाजार की यह हालत है क्योंकि बिल्डर उन जमीनों पर बहुमंजिली इमारतें बनाने वाले हैं, वहाँ के संदर्भों में अदालत ने फैसले दिये हैं। इन फैसलों का असर उन इलाकों पर भी पड़ेगा जहाँ एक लाख रुपये प्रति बीघे की दर से जमीनें ले ली गई हैं और लोगों को बेघर कर दिया गया है यह सोच पाना बहुत मुश्किल है। जमीन बचाने की लड़ाई देश के दूर-दराज में फैले हुये किसानों और आदिवासियों की जिन्दगी की लड़ाई है। हाल में हुये चन्द अदालती फैसले और सरकार द्वारा नई भूमि अधिग्रहण नीति का प्रस्ताव केवल भ्रम पैदा कर रहे हैं। किसानों और आदिवासियों के पक्षधरों को ऐसे भ्रमों और झूठों से सावधान रहने की जरूरत है। न सरकार की नीति बदल रही है और न विस्थापन रोकने के कोई आसार हैं। विस्थापन रोकने के संघर्षों में व्यापक आपसी एकता बने इसकी जरूरत दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है।

रोटी और संसद

एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
में पूछता हूँ—
'यह तीसरा आदमी कौन है?'
मेरे देश की संसद मौन है।



जन आंदोलन बनाम दिल्ली

देश एक बड़ी हलचल से होकर गुजर रहा है। भ्रष्टाचार और भूमि अधिग्रहण को लेकर पूरे देश में हलचल है। क्षितिज पर बदलाव की किरणें दिखाई दे रही हैं। कितना और कैसा बदलाव? यह चर्चा में आना शुरू हो गया है। ज्यादातर लोग समझते हैं कि भ्रष्टाचार से मुक्ति के लिए व्यवस्था में बड़ा परिवर्तन होना होगा, सार्वजनिक सामाजिक मूल्यों, व्यक्तिगत आकांक्षाओं और सफलता के मानकों में बड़ा परिवर्तन होना होगा। भूमि अधिग्रहण कानून रद्द करने की मांग अंततोगत्वा उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की अर्थनीति रद्द करने की मांग है। भूमि अधिग्रहण बंद होने का अर्थ है कि संसाधन के क्षेत्र में जमीन, उत्पादन के क्षेत्र में कृषि, समाज में किसान और ज्ञान के क्षेत्र में लोकविद्या, ये सब अभी के अपने दायरे दर्जे के स्थान से उठकर नंबर एक के हो जाएंगे। हमें ये सब चाहिए। लेकिन क्या रोज-रोज दिल्ली में दस्तक देने वाले आंदोलन इस मुकाम तक ले जा सकते हैं? संघर्ष के तरीकों में शांतिप्रियता, अहिंसा, भागीदारी, लोकतांत्रिक तरीके, अनुशासन इत्यादि पर बहस चलती रहती है, लेकिन क्या बात है कि दिल्ली को चुनौती देने के लिए हमें बार-बार दिल्ली जाना पड़ता है। क्या इसमें कहीं दिल्ली के प्रति हमारा मोह निहित है? क्या इसमें ऐसी कोई सोच निहित है कि दिल्ली पर कब्जा करके इस देश को अच्छा और रहने लायक बनाया जाएगा? गहन जांच की जरूरत है।

गांधीजी तो संघर्ष करने के लिए दिल्ली नहीं ले जाते थे। सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी दिल्ली अपना संघर्ष लेकर कम ही जाती थीं। विनोबा और जयप्रकाश के आंदोलन भी क्षेत्रों में ही हुए। 1980 के बाद उठा देश व्यापी किसान आंदोलन भी अपने संघर्ष को दिल्ली में जाकर नहीं छेड़ता रहा। हां, इन सबमें भी अब बार-बार दिल्ली जाने का रुझान देखा जा सकता है। जो आंदोलन किसानों के हैं, आदिवासियों के हैं, क्षेत्रीय मध्यम वर्गों और गरीब लोगों के हैं, वे बार-बार दिल्ली क्यों जाएं? दिल्ली जाने से तथा संघर्ष दिल्ली में केन्द्रित होने से गरीब वर्गों की पहल कम होती है और नेतृत्व का एक खास प्रकार विकसित होता है, अंग्रेजी बोलने वाला ज्यादा पढ़ा-लिखा और महानगरीय संस्कृति को समझने वाला। इतना ही नहीं, इस नेतृत्व में इस सबके प्रति एक आकर्षण और मोह भी बना रहता है। अगर बुनियादी परिवर्तन चाहिए तो विश्वविद्यालय, अंग्रेजी इंटरनेट और दिल्ली का मोह टूटना ही होगा।

कैसा बदलाव चाहिए?

कांग्रेस इस देश के बड़े पूंजीपतियों की पार्टी है। उसे सत्ता से हटाकर ज्यादा लोगों की भागीदारी स्थापित करने के प्रयास पहले भी हो चुके हैं। 1967 में जब किसानों तथा क्षेत्रीय लोगों का कांग्रेस से मोहभंग हुआ तब कई राज्यों में कांग्रेस को हार का मुंह देखना पड़ा। 1977 में यह बहुत बड़े पैमाने पर हुआ और केन्द्र से भी कांग्रेस का शासन जाता रहा। 1989 में भी यही हुआ। पहली बार किसानों के हित, क्षेत्रीय असंतोष और छात्र आंदोलन में बदलाव का आधार था। दूसरी बार आपात स्थिति से तंग आए लोगों ने लोकतंत्र के नाम पर बदलाव लाया। और तीसरी बार सामाजिक न्याय के नाम पर पिछड़ी जातियों की गोलबन्दी ने कांग्रेस को हार का मुंह दिखाया। इन सब बदलावों के चलते क्षेत्रीय राजनीति को बढ़ावा मिला, किन्तु वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण की अर्थनीति ने केन्द्र की सत्ता को बढ़ा दिया और अधिकांश क्षेत्रीय दल केन्द्र के साथ समझौते में ही जिन्दा रहने के रास्ते ढूंढ़ पाए। इसी के साथ आर्थिक प्रश्नों पर राजनीतिक ध्रुवीकरण समाप्त-सा हो गया। सभी राजनीतिक दल एक ही अर्थनीति के समर्थक हो गए। और अपने-अपने संकीर्ण हितों में संसदीय लोकतंत्र की व्यवस्थाओं को मजबूत करते चले गए। हर परिवर्तन में व्यवस्था परिवर्तन के नारे लगे और सत्ता में नए चेहरों और नए दलों के शामिल होने के अलावा व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उल्टे संसदीय लोकतंत्र द्वारा पोषित भ्रष्ट व्यवस्था ही मजबूत होती गई। इसलिए अभी चल रहे आंदोलनों में व्यवस्था परिवर्तन पर व्यापक बहस चलनी चाहिए। संसदीय लोकतंत्र के विकल्प पर विचार-विमर्श का मन बनाना जरूरी है। इस सिलसिले में गांधीजी और उनका विचार बहस के केन्द्र में आए तो रास्ता निकल सकता है।

यह लिखते-लिखते खबर आ रही है कि अन्ना ने, उनके साथियों ने और तमाम शहरों में आंदोलन के कार्यकर्ताओं ने सरकारी लोकपाल विधेयक को सड़कों पर आम लोगों के बीच जलाया। अन्ना की ओर से यह साफ किया गया कि उनके जन लोकपाल विधेयक और सरकारी लोकपाल विधेयक में जमीन-आसमान का अंतर है। प्रधानमंत्री का लोकपाल के दायरे में होना जरूरी है, लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण

सड़क बनाम संसद विस्तार पाता भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन

अन्ना हजारों का जन लोकपाल आंदोलन एक बार फिर सड़कों पर है। सरकार द्वारा अपने लोकपाल बिल को केन्द्रीय मंत्रिमंडल में पारित करके संसद में पेश करने के ऐलान के बाद अन्ना हजारों और उनका समूह फिर से सड़क पर उतर आए हैं। अन्ना ने ऐलान किया है कि वे 16 अगस्त से दिल्ली में जन लोकपाल विधेयक के पक्ष में आमरण अनशन पर बैठेंगे। व्यापक जनसम्पर्क के कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। विभिन्न शहरों में अन्ना के समर्थन में लोगों द्वारा सड़कों पर उतरना शुरू हो गया है। कई केन्द्रीय नेताओं के संसदीय क्षेत्रों में जनमत संग्रह की प्रक्रिया चलाई जा रही है। संसद की प्रक्रियाएं जन लोकपाल विधेयक की पक्षधरता का कोई संकेत नहीं दे रही हैं। देशभर में एक बहस का माहौल है। अन्ना का कहना है कि सवाल व्यवस्था और नीयत का है। सरकार की न तो नीयत साफ है और न वह भ्रष्टाचार पर लगान कसने की कोई व्यवस्था ही बनाना चाहती है। लोगों की उम्मीद इस आंदोलन से बढ़ती ही जा रही है। सिविल सोसायटी के नाम पर शुरू हुआ आंदोलन विस्तार पाने को उत्सुक दिखाई देता है। चार महीने पहले अप्रैल में जंतर-मंतर में शुरू हुए इस आंदोलन पर बहुत लोगों ने मीडिया और उच्च मध्य वर्ग द्वारा बनाए जाने का आरोप लगाया था। अब इस आरोप की जगह भी बहुत सीमित हो गई। आज आंदोलन में कौन-कौन भाग ले रहे हैं यह महत्वपूर्ण जरूर है किन्तु आंदोलन की समझ उसकी गति का स्वरूप देखकर बनाई जाती है। वर्तमान आंदोलन की गति विस्तारोन्मुख है और आधार नैतिक व सबके हितों से जुड़ा हुआ है। फिर भी यह तो मना नहीं किया जा सकता कि आंदोलन का नतीजा वही तय करते हैं जो उसके भागीदार होते हैं। यह आंदोलन एक ऐसी प्रक्रिया शुरू होने का एहसास दिलाता है जो व्यवस्था के परिवर्तन की बात को वास्तविक बना सके। ईमानदार और सही नीयत वालों को समयांतर में इस देश की बागडोर संभालने के मुकाम तक ले जा सके।

बात यह है कि जन लोकपाल विधेयक आम जनता का है और गांव-गांव व कस्बों और नगरों तक फैले सारे सरकारी कर्मचारियों को अपने दायरे में लाता है। सरकारी लोकपाल बिल, उल्टे भ्रष्टाचारियों को सुरक्षा प्रदान करता है और भ्रष्टाचार के खिलाफ शिकायत करने वालों की धर-पकड़ का प्रावधान करता है।

क्या सिनेमा की विधा लोकविद्या का अंग हो सकती है

मिहिर पण्ड्या, शोध छात्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

“हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है!” — *‘अशोक के फूल’*, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

‘लोक’ से जुड़ी अपनी किसी भी समझदारी की चर्चा करते हुए मैं पहले हजारी प्रसाद द्विवेदी को उद्धृत करता हूँ। संस्कृति और साहित्य का यह महान अध्येता ‘लोक’ को लेकर मेरी तमाम समझदारी का आधार स्तंभ है और आज जब हम इस प्रश्न पर विचार करने बैठे हैं कि सिनेमा जैसा माध्यम, जिसे अपने उद्गम से ही आधुनिक और शहरी कला माध्यम के रूप में चिह्नित किया गया है, क्या वह ‘लोक’ का हिस्सा बन सकता है? तो यहां फिर द्विवेदी जी और उनकी ‘लोक’ की अवधारणा से बात शुरू करना समीचीन होगा। जैसा ऊपर उद्धृत अंश से स्पष्ट है, द्विवेदी जी की लोक की अवधारणा इकहरी नहीं है, उसका अर्जित ज्ञान सैकड़ों सालों में विभिन्न देखे-अनदेखे स्रोतों से हासिल हुआ है और इस ज्ञान के पीछे जो एक सिद्धांत काम करता है, जो एक सूत्र एक बहुवचनीय सभ्यता इतिहास को आपस में साथ पिरोता है, वह है मनुष्य की अदम्य जीवनी शक्ति।

जब हम स्वयं सिनेमा को एक ‘लोकविद्या’ के रूप में अपनाए जाने के प्रश्न पर विचार करते हैं तो यहां हमें इसकी जड़ें वहां तलाशनी होंगी जहां सिनेमा ने मनुष्य की इसी जीवनी शक्ति से जुड़कर, प्रेरणा पाकर अपने आपको उसके अनुकूल बनाया है। उन हाशिए के इलाकों में उसे तलाशना होगा जहां वह प्रतिरोध की विधा बनी है, संचय की विधा बनी है, बेशक इसके लिए हमें सिनेमा के पारंपरिक ढांचों से बाहर निकलना होगा।

सच है कि सिनेमा पर ऐसी कोई भी चर्चा आज भी उदाहरणों से ज्यादा संभावनाओं की चर्चा है। लेकिन सिनेमा की तकनीक के बदलने के साथ ही इन संभावनाओं को जैसे पंख लग गए हैं। संजय जोशी, जिन्हें उत्तर भारत में ‘प्रतिरोध का सिनेमा’ नामक उस क्रांतिकारी शुरुआत का श्रेय हासिल है, जिसने एक बड़े समाज के लिए सिनेमा को देखने का नजरिया ही बदल दिया, इस तकनीकी के बदलाव को बड़े साफ शब्दों में समझाते हैं, “वीडियो तकनीक के आने से पहले फिल्म निर्माण का सारा काम सेल्युलाइड पर होता था। सेल्युलाइड यानि सिल्वर ब्रोमाइड की परत वाली प्लास्टिक की पट्टी को रोशनी से एक्सपोज करवाने पर छवि का अंकन नेगेटिव पर होता, फिर यह फिल्म लैंब में धुलने (रासायनिक प्रक्रिया) के लिए जाती। यह समय लेने वाली और तमाम झंझटों से गुजने वाली प्रक्रिया थी।

आज से पन्द्रह साल पहले तक 11 मिनट की शूटिंग के लिए फिल्म रोल और धुलाई का खर्चा ही आठ से दस हजार रुपये था। अब इसमें किराया भाड़ा भी शामिल करें तो खर्चा और बढ़ जाएगा। गौरतलब है कि यह अनुमान 16 मिलिमीटर के फॉरमैट के लिए लगाया जा रहा है। सेल्युलाइड के प्रचलित फॉरमैट 35 मिमी में यह खर्चा दुगुने से थोड़ा ज्यादा होगा। फिर शूटिंग यूनिट में कैमरापर्सन, कम से कम दो सहायक और साउंड रिकार्डिस्ट की जरूरत पड़ती और सारे सामान के लिए एक मंझोली गाड़ी और ड्राइवर।

इसके उलट वीडियो में आज की तारीख में आप 100 रुपये में 40 मिनट की रिकार्डिंग कर सकते हैं। दोनों माध्यमों में एक बड़ा फर्क यह भी है कि जहां सेल्युलाइड में आप सिर्फ एक बार छवियों को

अंकित कर सकते हैं वहीं वीडियो के मैग्नेटिक टेप में आप अंकित हुई छवि को मिटाकर कई बार नई छवि अंकित कर सकते हैं। वीडियो की यूनिट सिर्फ एक व्यक्ति भी संचालित कर सकता है। 1990 के दशक के मध्य तक न सिर्फ वीडियो कैमरे सस्ते हुए, बल्कि कम्प्यूटर पर एडिटिंग करना भी आसान और सस्ता हो गया। वीडियो तकनीक ने बोलती छवियों की विकास यात्रा में एक क्रांतिकारी योगदान प्रदर्शन के लिए सुविधाजनक और किफायती प्रोजेक्टर को सुलभ करवाकर किया। सम्भवतः इन्हीं सारे तकनीकी बदलावों के कारण 1990 के बाद भारतीय डॉक्यूमेंट्री फिल्म जगत में लम्बी छलांग दिखाई देती है।”

संजय जोशी का यह उद्धरण यहां इसलिए भी समीचीन है क्योंकि इस बदलती तकनीक के सहारे ही उन्होंने उत्तर भारत के आधा दर्जन से ज्यादा शहरों में ‘प्रतिरोध का सिनेमा’ शीर्षक से होने वाले सालाना फिल्म समारोहों की एक शृंखला खड़ी कर दी है। 2006 मार्च में गोरखपुर से शुरू हुआ यह सफर अब लखनऊ, पटना, बलिया, नैनीताल, भिलाई जैसे विभिन्न शहरों में अपने पैर जमा चुका है। इसने अपने विकास के साथ विश्व सिनेमा और बेहतर डॉक्यूमेंट्री सिनेमा देखने की जो समझदारी अपने दर्शक वर्ग के बीच विकसित की है वह अद्वितीय है। और जिस संदर्भ में हम सिनेमा और लोकविद्या का नाता तलाश रहे हैं, उसे लेकर भी यहां कुछ मजेदार प्रयोग होते देखे जा सकते हैं।

आयोजन के तीसरे-चौथे साल में संजय एक नया प्रयोग करते हैं। वे उत्सव के दौरान कुछ साथियों को उत्सव की गतिविधियों पर ही एक फिल्म बनाने का जिम्मा सौंपते हैं। इनमें से कई स्थानीय साथी हैं जिनके लिए यह इस तरह सिनेमा निर्माण का पहला और अपने आप में अनोखा अनुभव है। तकनीक की सुलभता के साथ सिनेमा किस तरह सर्वसुलभ माध्यम बन सकता है, इसका एक सीधा संकेत इस प्रयोग में छिपा है। इसी प्रयोग को आगे बढ़ाते हुए डॉक्यूमेंट्री फिल्म मेकर नितिन ‘जे.एन.यू. के जनकवि’ के रूप में विख्यात रमाशंकर यादव ‘विद्रोही’ पर फिल्म बनाते हैं। यह अपने आप में इस अनूठे व्यक्तित्व का और उसकी कला का डॉक्यूमेंटेशन भी है। ‘विद्रोही’ जी आधुनिक व्यवस्था की तमाम सहूलियतों अपनी इच्छा से नकार चुके हैं और उन्होंने अपनी कविताएं कभी प्रकाशित भी नहीं करवाईं। स्मृति में संचयन की परंपरा पर चलते हुए ‘विद्रोही’ जी की कविताओं में आक्रोश और समाज में व्याप्त गैर-बराबरी के विरुद्ध तीखा विद्रोह भरा है।

यहीं झारखंड के फिल्मकार मेघनाथ भट्टाचार्य याद आते हैं जिन्होंने न सिर्फ सिनेमा को अपनी बात कहने का माध्यम बनाया, बल्कि इस कला को अन्य लोगों तक पहुंचाने की जिम्मेदारी भी बखूबी उठाई है। इस साल के राष्ट्रीय पुरस्कारों में मेघनाथ और बीजू टोप्पो की बनाई दो फिल्मों ‘एक रोपा धान’ और ‘लोहा गरम है’ को रजत कमल से नवाजा गया। मेघनाथ और बीजू से दो साल पहले हुई मुलाकात में मैंने देखा कि किस तरह मेघनाथ अपने साथ फिल्म समारोह में झारखंड के क्षेत्रीय इलाकों से आए उन लड़कों को भी लेकर आए थे जिन्हें वे आगे जाकर फिल्मकार के तौर पर देखते हैं। इस नई पीढ़ी से ही यह उम्मीद की जा सकती है कि फिल्म निर्माण की तकनीक सीखने के बाद यह उस तकनीक का इस्तेमाल पहले से उनके स्थानीय समाज में मौजूद लोकविद्या से जोड़कर कर पाएंगे।

पर प्रहार निरंतर बढ़ते ही जा रहे हैं। सामान्यजन न्याय के लिये, संगठन व संघर्ष के लिये किस ज्ञान को आधार बनायें? सामान्यजन, रचना और कलाकार के बीच ज्ञान के रिश्ते कैसे हों? इनके बीच की दूरी कैसे कम होगी? संवेदना और ज्ञान के बीच रिश्ता कैसा है? सहज कला व साहित्य इन्हीं सवालों का जवाब खोजने के सामाजिक चिंतन का अभियान है।

साहित्य और कला विद्या का वह रूप है जो किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों की निजी विद्या नहीं होती। बल्कि सामान्य मनुष्य की जीवन दृष्टि का मूर्त रूप होती है। प्रत्येक मनुष्य (स्त्री व पुरुष) में कला का कोई न कोई रूप अवश्य होता है। इसी के बल पर कला प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान (विद्या) के क्षेत्र में सीधे दखल ले पाने की सहज क्षमता प्रदान करती है। ज्ञान (विद्या) के संगठित क्षेत्रों से जब सामान्यजन स्त्री व पुरुष, बाहर खड़े जा रहे हों ऐसे में सहज कला सामान्य मनुष्य को विद्यागत दखल लेने का अधिकारी होने की मान्यता देता है। सहज कला व साहित्य का मोटा परिचय इस प्रकार है—

1. सहज कला व साहित्य, सहज ज्ञान, सहज बुद्धि, सहज भाषा, सहज दृष्टि के सृजन को प्रतिष्ठा देता है। सामान्य मनुष्य की जीवन दृष्टि (लोकविद्या) को प्रतिष्ठा देता है।
2. सहज कला वंचित, पीड़ित, शोषित सामान्य जन की सत्य और न्याय की आकांक्षाओं का आईना होता है।
3. सहज कला अमानवीय सत्ता, व्यवस्था, विचार, ज्ञान आदि के खिलाफ निरंतर संघर्ष में सत्य के आग्रह को प्रभावी बनाता है।
4. सामान्य जीवन की नित-नवीनता और सहज कला-साहित्य के बीच रचनात्मक आपसी सम्बन्ध होता है।

सहज कला व साहित्य अपने समय की वास्तविकताओं को, भ्रम और षडयंत्रों को, मायावी विचार और व्यवस्थाओं को, मनुष्योचित मूल्यों और कार्यों को सरलतम रूपों में सामने लाता है। और ऐसा करते समय सहजता से वे संकेत दे जाता है जो मनुष्योचित समाज निर्माण के बुनियादी दर्शन का बीज हो सकते हैं।

यहीं मेरी बीजू टोप्पो से भी लम्बी बातचीत हुई। झारखंड के ही एक ग्रामीण क्षेत्र से आने वाले बीजू आज देश के अग्रणी वृत्तचित्र निर्देशकों में से एक हैं। एक सिनेमैटोग्राफर के तौर पर भी उनका कार्य अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सराहा गया है। बीजू के लिए सिनेमा माध्यम का अर्थ हमारी परिभाषाओं से बहुत अलग है। वे इसे भी अपनी जिन्दगी जीने की लड़ाई में (जो आदिवासी क्षेत्रों में निरंतर कठिन होती जा रही है) एक हथियार के तौर पर देखते हैं। अपनी संपदा और ज्ञान के संरक्षण में सिनेमा का कैसे इस्तेमाल किया जाए, यह बीजू की प्रमुख चिन्ताओं में से एक था। बेशक यह मुख्यधारा सिनेमा से बिलकुल अलग विचार है, लेकिन ऐसे विचार ही हमें सिनेमा माध्यम में छिपी विराट संभावनाओं को देखने का एक मंच उपलब्ध करवाते हैं।

यहां ‘विडियोकारन’ जैसी डॉक्यूमेंट्री का ज़िक्र भी किया जा सकता है। जगन्नाथन कृष्णन की बनाई इस डॉक्यूमेंट्री का मुख्य विषय एक ऐसा किरदार है जिसने अपनी जिन्दगी वैध शहर के हाशिए पर बिताई है। इस किरदार के लिए सिनेमा का महत्त्व नितांत भिन्न है क्योंकि इसने अपनी जीवन जीने की समझदारी भी मुख्यधारा सिनेमा से कमाई है। आधुनिक शिक्षा, सुख सुविधाओं से महरूम एक बड़ा समुदाय हमारे महानगरों में सीमांत पर बसता है जिसे हमारे महानगर स्वयं की आधुनिक पहचान से सदा अनुपस्थित रखना चाहते हैं। यह समाज अपने मूल निवास स्थानों से भी अब बहुत दूर निकल आया है। इन परिस्थितियों में इनका ‘लोक’ अब एक नितांत नई पहचान लेकर रचा जा रहा है जिसका एक बड़ा हिस्सा मुख्यधारा सिनेमा गढ़ता है। यह नजरिया भी इस विषय को देखने का एक और रास्ता हमारे सामने खोलता है।

‘मनुष्य की अदम्य जिजीविषा’ यही मूल मंत्र है आज भी। द्विवेदी जी को याद कर अगर कहा जाए तो ठीक-ठीक यही कि अगर सिनेमा एक माध्यम के रूप में इस कोशिश का किसी भी रूप में एक हिस्सा बन पाए, तो उसे लोक में एक विद्यादायी कारक के तौर पर स्थापना से कोई नहीं रोक पाएगा।

कलाकारों के सामने चुनौती

कम्प्यूटर-इंटरनेट का ज्ञान बाजार और प्रबंधन के क्षेत्र में विकसित हो रहा है और वैज्ञानिक सोच व तर्क इसके साथ सामंजस्य नहीं बैठा पा रहे हैं। आज ऐसे लोग हैं जो कम्प्यूटर को साइंस का ही हिस्सा मानते हैं और ऐसे भी लोग हैं जो साइंस के ढाँचे को तेजी से टूटता और बिखरता देख रहे हैं। इसके चलते विद्या के क्षेत्र में खलबली है।

साइंस से दबने वाले किस तीर से मारे गये हैं? वे आधुनिक शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और युद्ध सामग्री के निर्माण और व्यापार के सामने असहाय हैं, निःशस्त्र हैं। वे किस मुँह से इनके खिलाफ बोलें? औद्योगीकरण के लिये बड़ी मशीनों की पक्षधरता रखने वालों ने उजड़ते किसान-कारीगर परिवारों की कब चिंता की थी? साइंस से दबने वालों ने ज्ञान पर साइंस के एकाधिकार को मान्यता देने में महती भूमिका निभाई है। कम्प्यूटर के बल पर जो मायावी दुनिया आज आकार ले रही है उसका ज्ञान के क्षेत्र पर, विद्या के क्षेत्र पर जो साम्राज्य फैलता जा रहा है उसमें साइंस को भी अपना पद छोड़ने के लिये मजबूर किया जा रहा है। अब साइंस के प्रति निष्ठा रखने वालों की भूमिका क्या होगी? अभी यह साफ नहीं है।

विद्या की दुनिया में यानि साहित्य, कला, तकनीक, विज्ञान और दर्शन की दुनिया में, दो तरह के लोग हैं। एक वे हैं जो साइंस से दबते हैं और दूसरे वे हैं जो साइंस से नहीं दबते हैं। जैसे-जैसे विश्वविद्यालयों का विस्तार हुआ है साइंस से दबने वालों की संख्या बढ़ती चली गई है। साहित्य-समीक्षकों और दर्शन के विद्यार्थियों में भी यह संख्या तेजी से बढ़ी है। गांधी और कबीर के अनुयायियों और प्रशंसकों में भी साइंस से दबने वालों की संख्या बहुत अधिक है। हमें उन लोगों की खोज है जो साइंस से नहीं दबते। भाषा, ज्ञान, कला या दर्शन के क्षेत्रों में काम करने वालों में ऐसे लोगों से जो साइंस से नहीं दबते उम्मीद की जा सकती है कि वे विद्या पर एक मौलिक वार्ता को शुरू करने की पहल लें।

साइंस मानवीय संवेदनाओं से अछूता रहा है। और क्या कम्प्यूटर-इंटरनेट से जुड़ा समाज कला और साहित्य को विद्या का दर्जा देता है? अभी जो दिखाई दे रहा है उससे तो लगता है कि यह कला-साहित्य को मनोरंजन उद्योग का मात्र एक उत्पाद मानता है। उसे प्रबन्धन का विषय बनाता है और इस तरह मानवीय सक्रियता को गौण बनाता है। जबकि कला और साहित्य मानवीय संवेदनाओं से निर्मित हैं; इनमें मानवीय संवेदनायें खुलती और खिलती हैं जो कला-साहित्य को अनिवार्यतः नैतिक बना देती हैं। कम्प्यूटर-इंटरनेट से जुड़े समाज में सामान्य मनुष्य की सृजन क्षमता को, उसकी पहल को नकारने का आधार बनता दिखाई दे रहा है। ऐसे में मनुष्य की सक्रियता का मूल यानि उसकी अपनी विद्या पर वार्ता को खोलना और उसे व्यापक करना जरूरी है। विद्या के क्षेत्र में जो तूफान उठा है, जो खलबली मची है उसमें कला के विद्या-रूप की चर्चा का खुलना इसीलिये महत्त्व रखता है। कलाकारों को यह जिम्मेदारी उठाने में हिचक नहीं होनी चाहिये।

साहित्य बौद्धिक सत्याग्रह का वाहक है

सुनील सहस्रबुद्धे

साहित्य एक बहुमुखी विधा है जिसका कौन-सा रूप कब विशेषतौर पर उजागर हो यह समय की माँग से तय होता है। संवेदना, आक्रोश, कष्ट, समझ, प्रतिरक्षा, आक्रमण व अन्य अनेक भूमिकाओं का तुलनात्मक महत्त्व कब, कितना और कैसा होगा, यह समय की माँग से तय होता है। समय की माँग से हमारा मतलब है सामाजिक बदलाव की जरूरतों से, शोषित वर्गों की राजनीति की जरूरतों से, लोकसंघर्षों की जरूरतों से इत्यादि। हमारे ख्याल में आज साहित्य की विद्या रूपी भूमिका सबसे महत्वपूर्ण है।

20वीं सदी के आखिरी दशक में वैश्वीकरण के विश्वव्यापी तंत्र ने, सूचना प्रौद्योगिकी और इन्टरनेट के विकास और विस्तार ने और सुनियोजित अमेरिकी युद्धों ने ऐसी वास्तविकताओं का निर्माण शुरू कर दिया है जिसने 19वीं व 20वीं सदी में विकसित सामाजिक बदलाव की परिकल्पनाओं, शोषित वर्गों की राजनीति तथा लोक-संघर्षों को मौलिक आत्मविवेचना के लिये मजबूर कर दिया है।

शोषित वर्गों की राजनीति का पुनर्निर्माण, उसे गांधी व मार्क्स को मिला के बनाना हो तो, या उसे नये सिरे से गढ़ना हो तो, इस 21वीं सदी के पहले दिन से ही सबसे बड़े काम के रूप में सामने आया है। इस पुनर्निर्माण की मौलिकता ने विद्या की भूमिका को अति-महत्वपूर्ण बना दिया है। इस बदलाव की एक खासियत यह है कि साइंस (संगठित विद्या) के रूप भी बदल रहे हैं। शायद इसीलिए 'ज्ञान' नये मुहावरों के केन्द्र में है। इसे लफ्फाजी समझना बहुत बड़ी भूल होगी। राजनीतिक बहसों में विद्या का सन्दर्भ न लेने वाले हाशियों में जीने के लिये मजबूर होंगे। इसमें साहित्य कहाँ है?

समीक्षा और दर्शन

सत्य का निर्माण और सत्य की खोज इन दो मौलिक परम्पराओं के अनुकूल ही विद्या के भी दो रास्ते निखर कर सामने आते हैं। सत्य के निर्माण का रास्ता सामान्य (सहज) जीवन का रास्ता है, संत मार्ग है, लोकविद्या का रास्ता है। संतों में इस रास्ते की एक विलक्षण अनुभूति होती है जो उनकी वाणी के मार्फत समाज को समय की माँग के अनुरूप सत्य के निर्माण और पुनर्निर्माण के रास्ते सुझाती है। आम लोगों की जानकारियों, कलाओं, तकनीक के ज्ञान, प्रक्रियाओं की समझ, संगठन की क्षमताओं, तर्क के रूपों व संवेदनाओं के विस्तार इत्यादि में, रचना, पुनर्रचना व सामाजिक बदलाव का व्यापक आधार होता है। लोकविद्या और सामान्य जीवन का अविच्छेद्य सम्बन्ध एक अभेद्य किला है। दूसरी ओर सत्य की खोज का रास्ता संगठित विद्या का रास्ता है, साइंस का रास्ता है, शास्त्रीय मार्ग है। ज्ञान का अमूर्तीकरण व वैयक्तिक क्षमता इसके मुख्य अवयव हैं। मनुष्य के हित अथवा उसकी संवेदना से, उसकी कलाओं और स्वयंस्फूर्त रचना मार्गों से सिद्धांततः संगठित विद्या का कोई सरोकार नहीं होता। 20वीं सदी में इस विद्या का स्थान विश्वविद्यालय रहे। कला और भाषा के विभागों में यह समीक्षा के रूप में प्रतिष्ठित है। साहित्य समीक्षा या आर्ट अप्रीशिएशन संगठित विद्या के ही हिस्से हैं।

समीक्षा और दर्शन में फर्क करना जरूरी है। दर्शन केवल पाश्चात्य आधुनिक दर्शन के रूप में ही साइंस के सामने नतमस्तक है। उसमें भी शायद यूरोप के बड़े भाग में उपजे और विकसित दर्शन को इंग्लैण्ड और अमेरिका के (अंग्रेजी) दर्शन से अलग करके इस आरोप से बरी करना होगा। इसलिए साहित्य का दर्शन और साहित्य की समीक्षा अलग-अलग बातें हैं। समीक्षा किसी काल अथवा स्थान के साहित्य में अन्तर्निहित सम्बन्धों व उसके समाज के साथ सम्बन्ध की तर्कसंगत विवेचना है। कला-दर्शन की नींव सौन्दर्यानुभूति की कालजयी कल्पना में है। हर व्यक्ति इस कल्पना में भाग लेने की क्षमता रखता है और उसका हकदार है। इसके लिये किसी शिक्षण अथवा प्रशिक्षण की दरकार नहीं होती। दर्शन मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। सौन्दर्यानुभूति की कल्पना उसी अर्थ में कालजयी है जिस अर्थ में सत्य कालजयी होता है। यह वही अर्थ है जिस अर्थ में सामान्य जीवन कालजयी होता है तथा सौन्दर्यानुभूति इसकी रोजमर्रा की एक घटना। कालजयी का अर्थ अपिरतर्वनशील होने से नहीं लिया जा सकता। काजलयी का अर्थ है विकृति पर जय। समय में बदलाव के बावजूद जो विकृत नहीं होता। अतः दर्शन की दृष्टि में साहित्य का मूल सम्बन्ध सामान्य जीवन से है। यदि हम साइंस और समीक्षा के दबाव से अपने को मुक्त कर सकें तो हमें साहित्य सामान्य जीवन को दृष्टि देना नजर आयेगा और जिस हद तक यह सम्बन्ध द्रंढात्मक होना लाजमी है उस हद तक साहित्य सामान्य जीवन के पथ-प्रदर्शन का काम भी करता है।

साहित्य लोकविद्या का हिस्सा है। साहित्य के विद्या-रूप को लोकविद्या के रूप में देखना, पहचानना, समझना, नई राजनीति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। 'ज्ञान आधारित समाज' के महानगरीय नारों और ठहाकों के बीच तथा मुद्रा के अबाधित और अश्लील व्यवहार के बीच सामान्य जीवन में निहित कसौटियों में जान फूंकने का काम क्या साहित्य का नहीं है? मनुष्य के ज्ञान और सामाजिक मूल्यों का एकीकृत रूप ही विद्या है और इस विद्या की प्रतिष्ठा ही बौद्धिक सत्याग्रह है। साहित्य का आज का विद्या-कर्म बौद्धिक सत्याग्रह का है।

बौद्धिक सत्याग्रह क्या है?

क्या गांधी का 'स्वदेशी' का विचार और रचनात्मक कार्य बौद्धिक सत्याग्रह के रूप हैं? क्या 'नई तालीम' बौद्धिक सत्याग्रह है? क्या चीन की 'सांस्कृतिक क्रांति' बौद्धिक सत्याग्रह का रूप है? क्या लोहिया का 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन बौद्धिक सत्याग्रह ही है? लोकविद्या और सामान्य जीवन से बौद्धिक सत्याग्रह का क्या सम्बन्ध है? कबीर का 'सहज ज्ञान' और गांधी की 'सहज-बुद्धि' किस अर्थ में हमें बौद्धिक सत्याग्रह की कल्पना साकार करने में मदद करते हैं?

सामान्य लोग जानकार हैं। अपना काम करना जानते हैं, हुनर से करना जानते हैं, समय से करना जानते हैं। वे क्या करें और कब करें ये मैनेजर तय करते हैं। अब मैनेजर ये भी तय करेंगे कि जानकारी का अर्थ क्या है, ज्ञान की परिभाषा क्या है। अभी तक उत्पादन के लिये और बाजार के लिये मैनेजर हुआ करते थे। अब मैनेजरों की एक नई

जमात तैयार हो रही है। ये कम्प्यूटर युग के मैनेजर हैं। ये ज्ञान के मैनेजर कहे जाते हैं। अब केवल उस ज्ञान, हुनर और क्षमता को पहचाना जायेगा जिसका प्रबन्ध ये कम्प्यूटर से कर सकें। ये सब गुलामी के लायक माने जायेंगे और बाकी सब मिथ्या या फिर एकदम बेकार। यानि लायक समझे गये तो गुलाम अथवा नालायक तो हैं ही। अर्थात् सामान्य लोगों के ज्ञान की वैधता में उनकी गुलामी का आधार होना है और अवैध घोषित होने में बहिष्कृत होने का। क्या समाज की संवेदना में इस ज्ञान-अवैध अस्तित्व का बोध है?

सामाजिक कार्यकर्ताओं से पूछा जाय तो शायद वे कुछ ऐसा कहेंगे—

हमें अंग्रेजी आती नहीं है। टेलीविजन और अखबार के काम कर पाने के लिये उच्च शिक्षा की तहजीब चाहिये। सरकारी नौकरियों में जगहें खतम हो गई हैं। हमने मशीन का काम सीखा तो अब मशीन के दिन लद गये। कहते हैं कम्प्यूटर सीख लो। जिन भाईबंद ने सीखा है उन्हें न नौकरी है और न अपना धंधा ही चलता है, क्योंकि वे एक हद से ज्यादा सीख नहीं पाते। यहाँ भी अंग्रेजी चाहिये, पाश्चात्य तहजीब की अकल चाहिये, बहुत पढ़ा-लिखा होना चाहिये। बात ये नहीं है कि हमें कुछ करना नहीं आता। काम तो हम दसों तरह के जानते हैं। खाना बनाना, कपड़ा सिलना से लेकर खेती के काम, लोहा, लकड़ी और चमड़ा के काम, सभी हम जानते हैं। फूल और पत्ती पहचानते हैं। उनके गुण-धर्म से अच्छा परिचय रखते हैं। पशुओं के साथ रहना जानते हैं। जानवरों के साथ भी रहना जानते हैं। उन्हें मारने की कला भी जानते हैं। खेल-कूद, नाटक, कविता, गायन किसी में भी हम पीछे नहीं हैं। लेकिन वे सब जो अंग्रेजी जानते हैं, साइंस और कम्प्यूटर पढ़े हैं, टेलीविजन और अखबारों में काम करते हैं, दिल्ली, बम्बई और बैंगलोर में गुलछरें उड़ाते हैं, हमें बेवकूफ कहते हैं। कहते हैं, तुम कोई काम नहीं जानते। तुम्हें बात करना नहीं आता, उठना-बैठना नहीं आता, कपड़ा पहनना नहीं आता। जहाँ झूठ बोलना होता है वहाँ सच बोलते हो और जहाँ सच बोलना होता है वहाँ झूठ बोलते हो।

बृहत् समाज को अपने और अपने ज्ञान के इस वैध-अवैध पेंचदार अस्तित्व का बोध है भी और नहीं भी। जबकि उसके सार्वजनिक व्यवहार और समझ में गुलामी के दस्तखत देखे जा सकते हैं, उसकी संवेदना में इस नये झूठ का बोध है और उसके प्रति विद्रोह भी। इसी संवेदना की अभिव्यक्ति बौद्धिक सत्याग्रह की शुरुआत है। यह संवेदना अगर कला में नहीं व्यक्त होगी तो कहाँ होगी? अगर भाषा में रूपांतरित नहीं होगी तो कहाँ होगी? जो लेख में लिखा जा सकता है वह कहानी में क्यों नहीं लिखा जा सकता? और जब तक वह कहानी में नहीं लिखा जाता तब तक उसकी वास्तविकता संदेह के घेरे में रहती है। कहानी या कलाकृति सामान्य जीवन के तर्क की छू जाने वाली अभिव्यक्ति है। हम साहित्य की दुनिया से तब तक आशा रखेंगे जब तक वह पूरी नहीं हो जाती।

[यह पहली बार लोकविद्या संवाद, अंक 17, फरवरी 2006 में प्रकाशित हुआ था।]

कलाकारों के बीच लोकविद्या वार्ता

इन्दौर शहर के कुछ प्रमुख कलाकारों और सामाजिक कलाकारों के बीच लोकविद्या वार्ता हुई। धेनु मार्केट स्थित दिनेश कोठारी के कलाकेन्द्र पर 15 जुलाई की शाम को हुई इस बैठक में साहित्यकार, चित्रकार, रंगकर्मी, मीडियाकर्मी और फिल्म निर्माण की विधा से जुड़े कुछ कलाकारों ने हिस्सा लिया। कला केन्द्र पर अमृतलाल बेगड़ के रेखाचित्रों के बीच चली इस वार्ता का विषय था आज के युग में ज्ञान के क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों की सटीक समझ कलाकार ही सामने ला सकते हैं। चित्रा सहस्रबुद्धे ने लोकविद्या का विचार सबके सामने रखा और इस बात पर जोर दिया कि साइंस ने मनुष्य की संवेदना को अपने सिद्धान्तों से ही बेदखल कर दिया नतीजतन समाज और प्रकृति में विध्वंस का न थमने वाला दौर चल पड़ा। सूचना युग ने साइंस के वर्चस्व को तोड़ा है और ज्ञान के क्षेत्र में तमाम दूसरी ज्ञान धाराओं के प्रवेश का रास्ता बनाया है। इसके चलते मनुष्य की संवेदनाओं और लोकविद्या को ज्ञान क्षेत्र में प्रवेश मिला है। लेकिन इन्हें तुरंत बाजार में बेचने योग्य बनाने का दबाव भी बना है। महत्त्व की बात यह है कि सूचना की व्याख्या की पहल कला क्षेत्र के लोगों की ओर से हुई है न कि साइंस या तकनीकी क्षेत्र के। कला के विद्या रूप का शोषण सूचना युग की देन है। ऐसे में कलाकारों को आगे बढ़कर ज्ञान के शोषण, विशेषतः लोकविद्या के शोषण के खिलाफ चेतना को मुखर करने में पहल लेनी चाहिये क्योंकि लोक ही कलाकारों की प्रेरणा और रचना का आधार होता है।

बैठक में शामिल कलाकारों में विशेष रूप से सत्यनारायण पटेल, अरुण डिके, पंकज उपाध्याय, विनोद पाराशर, प्रकाश पाटीदार, अनिल त्रिवेदी, अवधेश यादव, जवरचन्द, श्री राम जोग, दिनेश कोठारी व संजीव कीर्तने ने हिस्सा लिया।

विन्ध्य प्रदेश में एक शुरुआत की कोशिश



यह चित्रा सहस्रबुद्धे, सुनील सहस्रबुद्धे और अवधेश कुमार के विन्ध्य प्रदेश के दौर की रपट है। अवधेश कुमार भोपाल में अरविंद केजरीवाल व सुनीलमू द्वारा आयोजित भ्रष्टाचार विरोधी जन लोकपाल अभियान की एक सभा से आये थे। चित्रा व सुनील विद्या आश्रम से लोकविद्या जन आन्दोलन के प्रचार-प्रसार के लिये निकले थे। प्रमुख रूप से तीन बैठकें आयोजित हुईं। 22 जुलाई को उमरिया में, 23 को शहडोल में और 24 को रीवा में स्थानीय सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ वार्तायें हुईं। बैठकों में सामाजिक कार्यकर्ता, पत्रकार, शिक्षक, छात्र व अन्य बुद्धिजीवी शामिल हुए। तीनों ही बैठकों में प्रमुख रूप से लोकविद्या विचार प्रस्तुत किया गया, लोकविद्या जन आन्दोलन का अर्थ बताया गया और इन विचारों का अन्ना हजारे के जन लोकपाल अभियान से क्या सम्बन्ध है इसकी चर्चा की गई। कहा गया कि लोकविद्या किसान और आदिवासी परिवारों की विद्या है और उन्हें समाज में बराबरी का दर्जा तभी मिल सकता है जब उनकी विद्या को

और विद्याओं चाहे वह साइंस की हो या मीडिया की, के बराबर का दर्जा मिले। विन्ध्य क्षेत्र आदिवासी बहुल, प्रकृति समृद्ध क्षेत्र है और अधिकांश लोगों का आदिवासी विद्या की क्षमता से कभी न कभी साबका पड़ा होता है। इसलिये लोकविद्या का विचार अपने इस रूप में नया होते हुए भी उन्हें इसे समझने में कोई दिक्कत नहीं हुई। यह हम नहीं कह रहे हैं, सभा में ऐसे विचार सक्रिय जनों ने व्यक्त किये। इस पर खुलकर चर्चा हुई कि अन्ना हजारे को 'सिविल सोसायटी' नहीं बल्कि पूरे समाज के प्रतिनिधि के रूप में देखा जाना चाहिये। सिविल सोसायटी का नामकरण आंदोलन को संकुचित करता है और सामान्य सामाजिक कार्यकर्ताओं की जगह उसमें कम करता है। अन्ना हजारे के इस आंदोलन में ग्रामीण भारत की भागीदारी खुलकर सामने आने की संभावनाओं को वास्तविक बनाने के प्रयास किये जाने चाहिये।

उमरिया की सभा का आयोजन विजय जोशी और डॉ. सदानन्द ने किया, शब्बीर खान ने अध्यक्षता की और हसन साहब, राज कुमार, भूपेन्द्र त्रिपाठी, रामकुमार, उमाशंकर आदि ने बहस में सक्रिय भागीदारी की। शहडोल में त्रिलोकीनाथ गर्ग ने सभा का आयोजन किया और पचोश गुप्त ने अध्यक्षता की। श्याम बाबू जायसवाल, शिवकुमार दूबे, शुभदीप खरे, अशोक तिवारी व राजकुमार की भागीदारी उल्लेखनीय रही। रीवा की सभा का आयोजन डॉ. मुकेश यंगल व वंशवर्द्धन ने किया। अध्यक्षता गिरिजा प्रसाद द्विवेदी ने की। सुभाष श्रीवास्तव, अजय खरे, सुबोध पाण्डेय, अमित पाण्डेय, संजय सिंह, अरशद खान, जगन्नाथ पाण्डेय, विष्णु, दिलीप शुक्ला, चन्दू खुशलानी, राजेन्द्र कवि, नीलू डाहिया, सविता यंगल आदि ने बहस में भाग लिया।

6 फुट 5 इंच कद का खतरा : ओसामा का बोझ

ओसामा बिन लादेन के मारे जाने के बाद टी.वी. पर अमेरिका के नौजवानों द्वारा सुपरमैन और अन्य सुपर हीरो जैसे वस्त्र पहनकर जश्न मनाने के प्रसारण के बाद मैंने यह लिखा। बिन लादेन की ऊँचाई 6 फुट 5 इंच थी और वह हमेशा अपने वफादारों की सुरक्षा के घेरे में रहता था। ऐसी स्थिति में सालों तक उसे पहचाना नहीं जा सका, यह बड़े अचरज की बात है।

फिर भी हमारे यह समझ में नहीं आता कि किसी एक व्यक्ति से अमेरिका को इतना डर कैसे लग सकता है कि अपनी सारी जासूसी टेक्नालाजी और कमाण्डो ताकत का इस्तेमाल करके इतना रहस्यमयी ढंग से और जल्दी से इसे इतना तिरस्कार के साथ एक आतंकवादी की तरह मार डाला जाय। और वह भी बुश जैसे पूर्व-राष्ट्रपति के एक दस सालाना वायदे को पूरा करने के लिए।

टावरों के गिरने के पहले मैं ओसामा बिन लादेन से परिचित नहीं था। उसके नाम ने मेरे जीवन को प्रभावित किया क्योंकि मेरे इज्जतदार पड़ोसी उससे बहुत डरते थे। ओसामा की तुलना में ये लोग बहुत छोटे थे, बहुत ही छोटे।

यह कहानी ओसामा से चाहे सीधा सम्बन्ध न रखती हो किन्तु छोटे लोगों की मनःस्थिति की एक झलक प्रस्तुत करती है।

हुआ यह कि मेरा एक दोस्त था जो ओसामा की तरह ही दुबला, लम्बा और दाढ़ीवाला और ओसामा से ज्यादा बदमाश दिखता था। यह कोई मुश्किल बात नहीं थी क्योंकि ओसामा निश्चित ही गोवा के चर्च के सन्त फ्रांसिस जेवियर की मूर्तियों से अधिक पवित्र दिखता था। मुझे तो ओसामा यूरोप के पुनर्जागरण के कलाकारों द्वारा कल्पित सफेद ईसा मसीह जैसा दिखता, अंतर केवल इतना था कि ओसामा के बाल सुनहरे नहीं थे। मेरा यह दोस्त मुझसे मिलने उस हाउसिंग सोसाइटी में चला आया जहाँ मैं रहता था उस वक्त गेट पर सुरक्षा बही में दस्तखत करना ज्यादातर लोगों को बड़ा गुस्सा दिलाने वाला था और नौजवान उसका तरह-तरह का मजाक उड़ाते थे। मेरे दोस्त की लड़की ने, जो मुश्किल से 12-13 साल की रही होगी उसने लिख दिया ओसामा बिन लादेन और परिवार।

हमारी हाउसिंग सोसाइटी के कमेटी के सदस्य इसी मौके का इन्तजार कर रहे थे क्योंकि उनके काम करने के तरीके पर मैंने जैसा मुझे लगा वैसी अपनी कुछ सच्ची प्रतिक्रियायें दे दी थीं। आधी रात को एक पुलिस इन्स्पेक्टर कमेटी के कुछ सदस्यों के साथ आया और कहने लगा कि मुझे थाने चलना होगा क्योंकि मैं भयानक आतंकवादी ओसामा बिन लादेन से सम्बन्ध रखता हूँ और जो हमारा अतिथि रहा जैसाकि रजिस्टर में दर्ज है। मैं गहरी नींद में सोया था और इस तरह जगाये जाने पर मुझे बहुत गुस्सा आया। मैं आधे-अधूरे कपड़ों में अपने ढीले पजामे को एक हाथ से पकड़कर पुलिस अफसर के पीछे चला। हाउसिंग कमेटी के सदस्य अपने परिवारों और मित्रों के साथ मुझे थाने की ओर घसीटा जाना देखने के लिये पहले से उपस्थित थे। मेरा गुस्सा सातवें आसमान पर था। मैंने अपने दूसरे हाथ से उन्हें ललकारा, शायद एक मोटे कमेटी मेम्बर को कालर से पकड़ भी लिया, जबकि ऐसा करने में मेरा पजामा गिर जाने का खतरा भी था। मैंने यह भी कहा कि अगर वे आदमी हों तो एक-एक कर आ जायें। इन्स्पेक्टर को समझा-बुझाकर वापस भेजकर मैं अपने घर सोने चला गया।

यह मेरी जिन्दगी पर ओसामा का सबसे कष्टदायी असर था। ओसामा बिन लादेन 6 फुट 5 इंच लम्बा था, तो जाहिर है उसे भेष बदलकर छिपने में दिक्कत आती। बुरका पहनकर नाच-गाने वालों में तो शामिल नहीं ही हो पाता। इसलिये उसे बदले हुए भेष में खोजने का कोई अर्थ नहीं था। केवल एक बात हो सकती थी कि वह

दाढ़ी बना लेता। ओसामा बिन लादेन ने दाढ़ी नहीं बनाई शायद इसलिये कि उसके अनुयायी उसे पहचान नहीं पाते।

अमेरिका के वैज्ञानिकों ने आदमी की परछाई से उसकी लम्बाई तय करने का विज्ञान बड़ी बारीकी से विकसित किया। अफगानिस्तान के आदिवासी क्षेत्रों के ऊपर कैमरे लगे हुए हेलीकाप्टर घूमते रहते थे। वे एक ऐसे 6 फुट 5 इंच के आदमी को खोज रहे होते थे जो कुछ लोगों की अगुवाई कर रहा हो। उन्हें ऐसे आदमी को तुरन्त मिसाइल और राकेट से मार देने की हिदायत थी। अमेरिका इसे एक युद्ध के रूप में देखता था। और इस कार्य को पूरी वैज्ञानिक और फौजी कार्यक्षमता के बल पर अंजाम देना चाहता था।

मेरा एक काल्पनिक दोस्त जो 6 फुट 5 इंच का था ओसामा के मारे जाने की खबर के बाद राहत की साँस लेते हुए आया। उसकी लम्बाई काफी कम मालूम पड़ रही थी। जिस वक्त ओसामा दुनिया के परदे पर प्रकट हुआ उस वक्त वह रेडियो के कलाकारों को हिन्दी फिल्मी गीत सिखाने के लिये अफगानिस्तान गया हुआ था। उसे समझ में आया कि वह अपनी लम्बाई की वजह से भयानक खतरे में था। उसने ऊँची एड़ी के जूते पहनना शुरू किया जिससे कि वह 7 फुट का हो जाये और अमेरिकी कैमरों की पकड़ में न आये। एक सुरंगी विस्फोट में उसका एक पैर उड़ गया। अमेरिकी कैमरों की वजह से उसकी जिन्दगी पर इतना खतरा था कि उसने अपना दूसरा पैर भी कटवा दिया और कृत्रिम पैरों के सहारे वह अपनी मूल खतरनाक लम्बाई से 3-4 इंच कम हो गया।

मेरे कल्पित मित्र ने ओसामा की खबर पढ़ी और उसे दरकिनारा कर दिया। वह अफगानिस्तान में कई 6 फुट 5 इंच वालों के साथ रह चुका था, जो अमेरिकी सेना द्वारा उन्हें बिन लादेन करार देकर जबर्दस्ती पकड़ ले जाने से डरे रहते थे। उसने कहा आजकल तो कई ओसामा बिन लादेन हैं, जो अमेरिका की जेलों में कड़ी सुरक्षा में बन्द हैं।

उसने कहा कि असली ओसामा बिन लादेन तो बहुत पहले ही अफगानिस्तान की पहाड़ियों में बमबारी में मारा गया। लोगों को यह विश्वास दिलाना मुश्किल था कि ओसामा जिन्दा है। मुशर्रफ ने भी कहा कि बिन लादेन मर चुका है। दोनों ही तरफ वालों को इसमें फायदा नज़र आया कि बिन लादेन को जिन्दा रखा जाय। इससे हथियारों के कारखानों के मुनाफे जारी रहें, टी.वी. चैनल वालों को भी ओसामा के टेप जारी करके मजे का मुनाफा होता रहा।

बिना कुछ कहे ही मेरा यह 6 फुट 5 इंच का काल्पनिक दोस्त बहुत कुछ कह गया। उसने क्या-क्या कहा इसकी कल्पना मैंने की। पहली चीज उसने यह कही कि हिन्दुस्तान की राजनीति में 6 फुट 5 इंच का कोई नेता नहीं है। अपना ऐसा अन्तिम नेता तो बलूचिस्तान के खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ साहब थे। आपके अब के खान तो 5 फुट 6 इंच वाले हैं!

ओसामा बिन लादेन पर हमले की योजना बनाने में कई दिन लगे और इस तरह अति रहस्यमय ढंग से किये गये इस हमले से किसी को

कहाँ जा रहे हो

अरे राहगीरों ठहरो, रुको तुम।
कहाँ जा रहे हो ये कैसा सफ़र है।
न आगे शहर है न आगे डगर है।
जहाँ जा रहे हो कहर ही कहर है।।

ये किसने दिखाया तुम्हें रास्ता है,
नहीं इससे कोई तेरा वास्ता है।
ये शैतानियत ने रचा ताना-बाना,
अब आगे को राही कदम न बढ़ाना।
सुनसान घाटी घना है अंधेरा, गहरी है खाई
क्या इसकी खबर है।।

नई सभ्यता है पूरा छलावा,
नहीं इसमें कुछ भी पतन के अलावा।
बर्बाद करने तेरी जिंदगी को,
घर-घर बहाया इसी गंदगी को।।
जिसे पार जाने की समझे हो नौका,
वो लहरों में छिपकर बैठा मगर है।।

अभी जान सकते अभी जान लो तुम,
अभी मान सकते अभी मान लो तुम।
बड़ी मुश्किलों से है बनता ठिकाना।
मिटाओ न अपना बना आशियाना।।

ऊँची इमारत है ठगों का डेरा।
पुरखों की कुटिया तेरा प्यारा घर है।।

अरे राहगीरों ठहरो रुको तुम,
कहाँ जा रहे हो ये कैसा सफ़र है।।

क्षेत्रपाल सिंह "भारती"
ग्राम व पो. छवाकर, जिला-झाँसी, उ.प्र.

कुछ मिला हो ऐसा नहीं लगता है कि सिवाय इसके कि ऐसे प्रचार से ओसामा को लाभ हुआ हो। जिस घर में ओसामा को मारने की बात कही गई वह पाकिस्तान के फौजी इलाके में है, उसे आसानी से घेरा जा सकता था और ओसामा को पकड़ा जा सकता था तथा इस सबकी साफ विडियो फिल्म बनायी जा सकती थी।

ओसामा को गिरफ्तार करके उसपर मुकदमा चलाने का ज्यादा असर लोगों पर पड़ता जैसाकि दूसरे विश्वयुद्ध के बन्दियों पर न्यूरोर्ग में मुकदमा चलाकर किया गया। वे शायद उस गलती को नहीं दोहराना चाहते थे जो उन्होंने सद्दाम हुसैन की फाँसी को दिखाकर की क्योंकि अन्तिम क्षण तक सद्दाम की गर्दन नहीं झुकी।

कहा गया कि अमेरिकी कमाण्डों के साथ गोलीबारी में ओसामा बिन लादेन ने खुद हिस्सा लिया। आत्मरक्षा में ओसामा को मारने और किसी न्यायालय के समक्ष पेश न करने का यह बहाना बहाना हो सकता था। प्रकट तौर पर अमेरिका के लोग निष्पक्ष जाँच और अदालती कार्यवाही के पक्षधर हैं, यही ओसामा ने कहा था जब उसने यह इच्छा जाहिर की थी गुमांतनामो खाड़ी में रखे गये इराकी युद्धकैदियों की निष्पक्ष अदालती कार्यवाही पूरी दुनिया देखे।

ओसामा बिन लादेन को सिर में गोली मारी गई। मेरे ख्याल से कमाण्डो का प्रशिक्षण इतना बढ़िया था कि ओसामा की एक भी गोली उन्हें नहीं लगी और उन्होंने आराम से ओसामा के पास जाकर उसके सिर में गोली मार दी। अगर मैं इतना भोला-भाला न होता तो मैं सोचता कि ओसामा के सिर में गोली इसलिये मारी गई कि उसकी पहचान न की जा सके।

राष्ट्रपति ओसामा ने सार्वजनिक तौर पर यह वादा किया था कि ओसामा को उसके धर्म के अनुसार सही मुसलमान तरीके से दफनाया जायेगा। ओसामा के शरीर को जल्दी से हेलीकाप्टर से उड़ाकर ले जाया गया और समुन्दर में डुबो दिया गया। बारीक और विस्तृत योजना का एक सुन्दर उदाहरण!

केवल समुन्दर का महान विस्तार ही उस 6 फुट 5 इंच के आदमी के लिये काफी हो सकता था जिसे छोटे लोगों की दुनिया ने एक आतंकवादी के रूप में देखा। उसका कद और उसका व्यक्तित्व ही शायद उसका बोझ था।

[यह कहानी <http://caprarius-aquacorn.blogspot.com> से ली गई है। इसका यहाँ स्थान की सीमा के चलते संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद किया गया है। -सम्पादक]

किसान, कारीगर, आदिवासी, छोटा दुकानदार एक हों

क्योंकि

सूचना युग में कम्प्यूटर-इंटरनेट और वैश्वीकरण मिलकर किसान, कारीगरी, छोटी दुकानदारी को उजाड़ रहे हैं, मज़दूरी को घटा रहे हैं।

कैसे?

1. इनके श्रम को बाजार में कम दाम देकर
2. इनके ज्ञान यानि लोकविद्या को लूटकर
3. शिक्षा को महंगी बना कर व इन्हें नये ज्ञान से वंचित कर

आइए

1. लोकविद्या के बल पर जीविका के अधिकार का दावा करें।
2. सूचना युग में श्रम और ज्ञान की लूट को रोकने के उपाय खोजें।
3. बाजार और ज्ञान के क्षेत्र में हो रहे शोषण की समझ और विरोध को आकार दें।

बुक पोस्ट

झारखण्ड का कुडुख लोकगीत राजाओं का भार

हे प्रिय देवर
तुम राजाओं का भार ढोने नहीं जाओगे
भले ही इस भार के पैसे मिलते हैं,
लेकिन फिर भी तुम
भार ढोने नहीं जाओगे

हे मेरे छोटे भाई, तुम अतिप्रिय हो
तुम राजाओं का भार ढोने नहीं जाओगे
भले ही यह भार रुपयों का होता है
फिर भी तुम भार ढोने नहीं जाओगे
भार ढोने नहीं जाओगे।

हे मेरे प्रिय बड़े भैया
तुम जमींदारों का भार ढोने नहीं जाओगे।
भले ही इनका भार ढोने से रुपये
मिलते हैं, फिर भी तुम
भार ढोने नहीं जाओगे।

साह्नी विरासत पुस्तिका-13,
आई.एस.डी. प्रकाशन, दिल्ली से साभार